

इकाई 1 भारतीय उपन्यास की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 आधुनिकता और जातीयता का द्वंद्व
- 1.3 भारतीयता का अर्थ-संदर्भ
- 1.4 उपन्यास में भारतीयता
- 1.5 जातीय उपन्यास बनाम भारतीय उपन्यास
- 1.6 राष्ट्रीय रूपक के रूप में भारतीय उपन्यास
 - 1.6.1 भारतीय समाज का यथार्थ
 - 1.6.2 भारतीय उपन्यास : अस्मिता की तलाश
- 1.7 भारतीय उपन्यासों में स्थानीयता
- 1.8 भारतीय उपन्यास में जातीय चेतना
- 1.9 भारतीय उपन्यास में राजनीतिक संदर्भ
- 1.10 सारांश

1.0 उद्देश्य

आप एम.ए. हिंदी कार्यक्रम के पाठ्यक्रम एम.एच.डी.-13 (उपन्यास : स्वरूप और विकास) का अध्ययन कर रहे हैं। इस पाठ्यक्रम के खंड-4 (भारतीय साहित्य में उपन्यास) की पहली इकाई 'भारतीय उपन्यास की अवधारणा' का आप अध्ययन करने जा रहे हैं। इस इकाई में इस बात पर विचार किया गया है कि क्या भारतीय उपन्यास नामक अवधारणा का कोई औचित्य है। यदि भारतीय उपन्यास जैसी कोई अवधारणा है तो वह किस अर्थ में उपन्यास की यूरोपीय अवधारणा से भिन्न है। क्या भारतीय उपन्यास जैसी अवधारणा से हम सभी भारतीय भाषाओं में लिखे गए उपन्यास साहित्य में निहित समाज की विशेषताओं को पहचान सकते हैं।

'भारतीय उपन्यास की अवधारणा' नामक इस इकाई में भारतीय भाषाओं में लिखे गए उपन्यासों के साथ-साथ भारतीय लेखकों द्वारा अंग्रेज़ी में लिखे गए उपन्यासों पर विचार किया गया है और इस बात को विश्लेषित किया गया है कि अंग्रेज़ी में लिखे जाने के बावजूद वे कितने और किस रूप में भारतीय हैं। यहाँ भारतीय उपन्यास की अवधारणा के साथ-साथ उपन्यास की भारतीय अवधारणा पर भी विचार किया गया है। इस संदर्भ में उपन्यास के भारतीय प्रयोगों पर टिप्पणी की गई है। भारतीय उपन्यास की अवधारणा के उपर्युक्त पहलुओं के विवेचन द्वारा आप इस इकाई में प्रस्तुत बातों को समझ सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

'उपन्यास : स्वरूप और विकास' नामक इस पाठ्यक्रम में अब तक आप तीन खंडों की बारह इकाइयों का अध्ययन कर चुके हैं। पहले दो खंडों में आपने उपन्यास विधा के उदय और विकास के कारणों तथा उपन्यास के विभिन्न पक्षों और तत्वों का विस्तार से अध्ययन किया है। तीसरे खंड में हमने आपको विश्व साहित्य में उपन्यास के उदय और विकास का परिचय दिया है। यह सही है कि उपन्यास का उदय यूरोप में हुआ लेकिन अठारहवीं सदी के अंत और उन्नीसवीं सदी के आरंभ में इस विधा का विस्तार दुनिया के दूसरे हिस्सों में भी होने लगा था। भारत इस दौर में ब्रिटेन का उपनिवेश था। भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ शिक्षित भारतीय अंग्रेज़ी साहित्य के संपर्क में भी आए। इस साहित्य में उपन्यास भी शामिल था।

उपन्यासों के अध्ययन ने भारतीयों को प्रेरित किया कि इनका भारतीय भाषाओं में अनुवाद कर इन्हें ज्यादा व्यापक जन समुदाय तक पहुँचाया जाए। दूसरे चरण में भारतीय लेखक इन विदेशी उपन्यासों से प्रेरणा लेते हुए, उसी ढंग के उपन्यास भारतीय भाषाओं में, भारतीय परिवेश के संदर्भ में लिखने लगे। उपन्यास विधा के भारतीय विकास का तीसरा चरण वह था जब उन्होंने उपन्यास विधा के भारतीय उत्स को तलाशने का काम शुरू किया और जो अंततः भारतीय उपन्यास की अवधारणा के रूप में सामने आया। भारतीय उपन्यास की अवधारणा पर विचार का तात्पर्य यह नहीं है कि आरंभ से ही भारतीय लेखकों ने विभिन्न भारतीय भाषाओं में जो उपन्यास लिखे वे 'क्षेत्रीय' या 'भाषाई' विशेषताओं से युक्त न होकर 'राष्ट्रीय' विशेषताओं से युक्त थे। इसके विपरीत सच्चाई यह है कि भारतीय लेखकों ने अपनी क्षेत्रीय और भाषाई परंपरा और ज़रूरत के अनुरूप उपन्यास लिखे थे। यही वजह है कि प्रेमचंद और शरतचंद्र एक ही दौर के लेखक होते हुए भी उनके उपन्यास अपनी क्षेत्रीय और भाषाई विशिष्टता लिए हुए हैं। लेकिन क्या उनके बीच कोई समान धरातल नहीं है? इस सवाल का उत्तर ढूँढते हुए ही भारतीय उपन्यास की अवधारणा पर विचार आरंभ हुआ। आज हम इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि रवींद्र, प्रेमचंद, शरतचंद्र, गोवरधनराम त्रिपाठी, मामा वरेरकर, तकषी शिवशंकर पिल्लै आदि अलग-अलग भाषाओं के उपन्यासकारों में बहुत-कुछ ऐसा है जो समान हैं और जिसे 'भारतीय' कहकर परिभाषित किया जा सकता है। उपन्यास विधा के साथ जुड़ी इस वैचारिक गुथी को समझने का प्रयास इस इकाई में किया गया है।

1.2 आधुनिकता और जातीयता का द्वंद्व

भारतीय उपन्यास के बारे में लंबे समय तक यह धारणा प्रचलित रही कि भारत में उपन्यास का जन्म यूरोपीय साहित्य-विशेषकर अंग्रेज़ी साहित्य के प्रभाव से 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ। यदि इस बात को इसके प्रचलित रूप में स्वीकार कर लिया जाए तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि अपने आरंभ में उपन्यास का कोई सर्वथा निजी और ठेठ 'भारतीय' स्वरूप नहीं था। यह विधा भारतीय भाषाओं में पश्चिम से आई जिसका संभवतः आगे चलकर भारतीयकरण हो गया।

एक दूसरी बात विधा के रूप में उपन्यास के जन्म के बारे में कही जाती है। वह यह है कि इसके उद्भव का साहित्यिक कारण विभिन्न भाषाओं में गद्य-शैली का विकास और सामाजिक कारण पूँजीपति समाज में मध्यवर्ग का उदय था। सामान्य धारणा है कि बुरुआजी के उदय का परिणाम होता है राष्ट्र-राज्यों (नेशन-स्टेट्स) का उदय, और फिर क्रमशः मुक्त बाजार, व्यक्ति के रूप में मानव और विधा के रूप में उपन्यास का उद्भव और विकास। यह बात सामान्य रूप से आधुनिक युग में उपन्यास नाम की गद्य-विधा के विकास के बारे में कुछ दूर तक सही हो सकती है। पर विशिष्ट संदर्भों में किसी भी भाषा में किसी विधा-विशेष की निजी पहचान, उसका जातीय चरित्र किन्हीं सामान्य स्थितियों के साथ जोड़कर नहीं देखा जा सकता। ऐसा करना स्थिति की सरलीकृत व्याख्या प्रस्तुत करना भर होगा।

'भारतीय उपन्यास' की सही समझ के लिए पहली शर्त है इस औपनिवेशक मानसिकता से मुक्ति कि आधुनिकता के नाम पर जो कुछ घटित हुआ उस सबका संबंध पश्चिमी, विशेषकर यूरोपीय सभ्यता, संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान से है। बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध विश्व में फासिस्ट और साम्राज्यवादी ताकतों के पतन और पराधीन देशों और एशियाई संस्कृतियों के मुक्ति-संघर्ष का इतिहास है। इस संघर्ष का एक महत्वपूर्ण एजेंडा अपनी जातीय परंपराओं और विशेषताओं की पहचान और उन्हें पुनः परिभाषित करने का प्रयास भी है। लम्बे समय से यूरो-अमरीकी आलोचनात्मक-विमर्श में अपनी सार्वभौमिकता और वर्चस्व को प्रतिपादित-प्रचारित किया जाता रहा है। राजनीतिक शिकंजे से मुक्ति के उपरांत, विश्व के तथाकथित

उपनिवेश अपनी जातीय पहचान को नए सिरे से पाने, और औपनिवेशिक शाक्तियों के 'प्रभाव' से अधिक 'अलगव' को रेखांकित करने की दिशा में प्रयत्नशील हैं। इस पूरी प्रक्रिया का संबंध जातीयता के बोध से है। भारतीय संदर्भ में इस जातीयतावाद की महत्वपूर्ण भूमिका केवल साहित्य के अध्ययन में ही नहीं, दर्शन, समाजविज्ञान, राजनीतिशास्त्र, विज्ञान और तकनीकी, वस्तुविज्ञान आदि सभी क्षेत्रों में देखी जा सकती है।

चाहें तो इसे एक तरह का 'देसीवाद' कह सकते हैं। इस अर्थ में नहीं कि हमारी चेतना 'देसीपन' के आग्रह से आक्रांत हो जाए बल्कि इस अर्थ में कि हम ऐसे हर विचार को चुनौती दें, जो आधुनिकतावाद और अंतर्राष्ट्रीयतावाद को पूर्णतः यूरोप-अमरीका केंद्रित मानता है जिसमें हर साहित्यिक रचना/प्रवृत्ति को किसी-न-किसी यूरो-अमरीकी रचना से तुलना करके देखने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती हो। 'आधुनिकता' के क्षेत्र में केवल पश्चिम से उधार लेकर प्रवेश करना संभव नहीं है, उसकी तलाश में अपनी जड़ों और परंपराओं की ओर और अपने यथार्थ की ओर मुड़ना भी उतना ही ज़रूरी है। हमें भारतीयता की ऐसी चेतना विकसित करनी होगी, ऐसे दृष्टिकोण और परिप्रेक्ष्य का निर्माण करना होगा जो हर तरह की हठधर्मिता या झक से मुक्त हो पर साथ ही जिसकी वैधता असंदिग्ध हो।

1.3 भारतीयता का अर्थ-संदर्भ

भारत की अपनी पहचान बहुलतावादी संस्कृति के रूप में की जाती है। यही विशेषता उसे समसामयिक पाश्चात्य सभ्यता के तत्वों को भी स्वीकार करने की सामर्थ्य प्रदान करती है।

भारत की सभी भाषाई परंपराएँ मूल रूप में देसी परंपराएँ हैं जिनके बीच सांस्कृतिक संबंधों का संजाल है। संसार के तमाम देशों ने अपनी पहचान और अस्मिता को बाहरी प्रभावों से बचाए रखने के लिए अपने जातीय, राष्ट्रीय और मिथकीय स्रोतों का सिद्धांत और व्यवहार में उपयोग किया है। अफ्रीका, लातीनी अमरीका और कई एशियाई सभ्यताएँ इसका उदाहरण हैं।

देसीवाद की यह चेतना बाहरी संवेदनाओं, अनुभूतियों और व्यवहारों के आरोपण के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए उत्तर-उपनिवेशवादी मानसिकता का परिणाम है और सांस्कृतिक भिन्नताओं पर बल देने की प्रवृत्ति उत्तर-आधुनिकतावादी दृष्टिकोण का तकाजा है। इसलिए ऐसी लगभग सर्व-स्वीकृत मान्यताओं पर आज पुनर्विचार करना ज़रूरी है कि क्या एक साहित्यिक विधा के रूप में उपन्यास का आयात भारतीय-साहित्य में यूरोप से ही किया गया है या उसके विकास में अपनी जातीय और निजी विशेषताओं का भी कोई योगदान रहा है।

इस संदर्भ में कुछ तथ्यों की ओर ध्यान देना प्रासंगिक होगा। हसन शाह ने सन् 1785 में कानपुर में एक फारसी उपन्यास की रचना की थी। 19वीं शताब्दी में इसका उर्दू अनुवाद हुआ। इसी उपन्यास का अंग्रेज़ी अनुवाद 'द नॉच गर्ल' नाम से कुरुतुल्लेन हैदर ने किया। ऐसी रचनाएँ जेन ऑस्टिन और सर वॉल्टर स्कॉट के आरंभिक उपन्यासों से पहले की हैं। यानी एशियाई देशों और भाषाओं में भी औपन्यासिक ढाँचे में कथा-कहने की एक परंपरा मौजूद थी।

भारतीय उपन्यास में 'भारतीयता' की पहचान के लिए ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना से पहले चली आती भारतीय भाषाओं के साहित्य की तमाम वाचिक और लिखित परंपराओं का अध्ययन करना ज़रूरी होगा। सामान्य धारणा है कि भारत की स्थानीय भाषाओं में अनेकता के बीच एकता के ऐसे तमाम तत्व मौजूद थे जो उनके भारतीय होने की पहचान हैं।

महात्मा गांधी ने सन् 1909 में 'हिंद स्वराज' में लिखा था कि अंग्रेजों के भारत आने से पहले हम एक राष्ट्र थे। हमारा प्रेरक विचार एक था। जवाहर लाल नेहरू ने भी 'भारत की खोज' में भारत को 'एकता की पक्की मुहर वाले' या 'मूलभूत एकता' वाले देश के रूप में देखा था। उसी पुस्तक में उन्होंने यह भी लिखा कि "भारतीय सभ्यता के उदय काल से ही भारतीय मानस किसी न किसी रूप में एकता के स्वप्न से बराबर अभिभूत रहा है।" आगे चलकर विद्वानों ने इस एकता बोध के बाह्य कारणों की ओर इशारा किया। हुमायूँ कबीर ने 'इंडियन हेरिटेज' में लिखा कि 'किन्हीं भौगोलिक दबावों के कारण' "भारतीयता की ऐसी चेतना विकसित हुई जिसने समूची अनेकता पर एकता को आरोपित कर दिया।"

जैसे-जैसे उत्तर आधुनिकतावादी दृष्टिकोण का प्रभाव बढ़ता गया वैसे-वैसे एकता के बीच अनेकताओं की जातीयता और निजता को पहचानने का आग्रह भी बढ़ चला। भारतीय भाषाओं के इतिहास की चर्चा करते हुए विद्वानों ने इन साहित्यों को "भारतीय साहित्यों का संगठन" कहना बेहतर समझा (ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, खंड 8, शिशिर कुमार दास)। पर लगे हाथों उन्होंने इनके बीच "एक और अखंड चेतना" की धारणा का भी समर्थन किया।

1.4 उपन्यास में भारतीयता

अक्सर यह भी कहा जाता है कि हमारे स्थानीय/आंचलिक उपन्यासों में अतिकृत भारतीयता का स्वरूप उद्घाटित होने की संभावना अधिक होती है। आंचलिक या स्थानीय उपन्यासों में किसी अंचल या स्थान विशेष के परिदृश्य बोली-बानी और सामाजिक संरचना पर बल दिया जाता है। उपन्यासकार केवल अपनी अंतर्वस्तु को स्थानीय रंग देने भर के लिए ऐसा नहीं करता, बल्कि वह इनका उपयोग ऐसी महत्वपूर्ण स्थितियों के रूप में करता है जो उसके चरित्रों, उनकी विचार-पद्धति, उनकी अनुभूतियों, और आपसी व्यवहार के चित्रण को प्रभावित करती है।

ब्रिटिश राज्य की स्थापना से पहले भारत में कथा साहित्य के जितने वाचिक और लिखित रूप प्रचलित थे उन्हें मोटे तौर पर उपन्यास-साहित्य की 'जातीय' परंपरा माना जा सकता है। अंग्रेजी-गद्य के प्रभाव के सही आकलन के लिए ब्रिटिश-राज से पहले भारतीय भाषाओं में उपलब्ध गद्य-साहित्य के इतिहास की पुनर्रचना अपेक्षित है। गद्य-रचनाओं में देशीय साहित्यिक तत्वों की भूमिका के बारे में खोज अभी अधूरी है। इन प्रभावों का परीक्षण मुख्य-रूप से तीन स्तरों पर किया जाना चाहिए : विषयवस्तु और कथ्य, रूप और संरचना और भाषा-शैली।

अंग्रेजी में लिखे जाने वाले भारतीय उपन्यासों को अंग्रेजी साहित्य के कुछ भारतीय आलोचकों ने द्विजन्मा कहा है। भारतीय उपन्यास की 'पुरातन से नूतन' की ओर यात्रा के बारे में उनका निष्कर्ष है कि इनके विकास में देशज आख्यान शैलियों का पर्याप्त योगदान है। ये पूर्णतः ब्रिटिश प्रभाव की उपज नहीं हैं। पर इस सम्मिलित प्रभाव का जिक्र करते हुए यह पूरी तरह स्पष्ट नहीं किया गया कि मध्यकालीन गद्य-कथाओं - हरिकथा या इतिहास-वृत्त की संरचना और शैली की वे कौन-सी विशेषताएँ हैं जो आधुनिक उपन्यास में बनी रही हैं, न ही यह स्पष्ट किया गया कि वह अपनी यूरोपीय समानधर्मा रचनाओं से कहाँ तक भिन्न है।

भारतीय साहित्यिक आलोचना आज भी सही अर्थों में उस तरह उत्तर-उपनिवेशवादी नहीं हो सकी है जैसे अफ्रीकी और लातीनी अमेरिकी आलोचना। इसीलिए भारतीय शैक्षिक संस्थाओं में परंपरा से चले आते लोक-साहित्य और उससे संबद्ध लघु-कथाओं, आख्यानों, पुरा-कथाओं की अर्थ-मीमांसा नहीं हो सकी, न ही इनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर पर्याप्त ध्यान दिया गया। इसी कारण भारतीय उपन्यास को पराए पैमानों पर मूल्यांकित किए जाने की पद्धति कुछ इस तरह प्रचलित हुई कि अब तक उनका कोई जातीय केंद्र नहीं बन सका।

भारतीय साहित्य को प्रायः ब्राह्मणीय सृजन कहा जाता है कि यानी ऐसा साहित्य जो मूलतः 'द्विज-संस्कार' से प्रेरित हो। ऐसा मान लिया जाए तो भारतीय साहित्य अल्पसंख्यक-विमर्श से अधिक नहीं ठहरेगा। ऐसे समाज में जहाँ सैंकड़ों जातियाँ, उनके भेद-उपभेद और उनकी उप-संस्कृतियाँ वर्तमान हों वहाँ अगर कोई साहित्य समाज के किसी वर्ग, जाति या समुदाय की चेतना से रचा जाता है तो वह अल्पसंख्यक-विमर्श से अधिक कुछ नहीं हो सकता। जाहिर है भारतीय साहित्य अल्पसंख्यक विमर्श नहीं है। उसे ब्राह्मणीय साहित्य के रूप में परिभाषित करना सर्वथा भ्रामक है - उसी तरह जैसे उसके हर आधुनिक तत्व को यूरोपीय साहित्य के प्रभाव का परिणाम समझना।

1.5 जातीय उपन्यास बनाम भारतीय उपन्यास

इस संदर्भ में एक तथ्य को और ध्यान में रखना चाहिए कि किसी एक भारतीय भाषा के आधार पर यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि 'भारतीय उपन्यास' का स्वरूप कितना स्वदेशी और कितना विदेशी है। उदाहरण के लिए हिंदी में लाला श्रीनिवास दास के उपन्यास 'परीक्षा गुरु' पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने टिप्पणी की थी कि वह हिंदी में अंग्रेज़ी ढंग का पहला उपन्यास है। संभवतः इसके साथ ही यह धारणा प्रचलित हो गई कि हिंदी में सामाजिक उपन्यास लिखने का चलन अंग्रेज़ी के अनुकरण पर ही हुआ जबकि सच्चाई यह है कि भारतीय भाषाओं में ठेठ भारतीय विषयवस्तु पर उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति का आरंभ इससे कहीं पहले हो चुका था।

डॉ. नामवर सिंह ने अपने एक लेख 'अंग्रेज़ी ढंग का नावेल और भारतीय उपन्यास' में बंकिमचंद्र के तीन उपन्यासों 'दुर्गेशनदिनी' (1865), 'कपालकुंडला' (1866), और 'मृणालिनी' (1869) का हवाला देते हुए यह स्पष्ट किया कि इन तीनों उपन्यासों में से एक भी 'अंग्रेज़ी ढंग का नावेल' नहीं है, उसी तरह जैसे हिंदी में ठाकुर जगमोहन सिंह का 'श्यामा स्वप्न'। उनके अनुसार बंकिमचंद्र के उपन्यास संस्कृत की 'कादम्बरी' की याद दिलाते हैं, अर्थात् भारतीय परंपरा में आते हैं। इस ढंग के भारतीय उपन्यासों को डॉ. नामवर सिंह ने नाम दिया 'रोमांस'। उनका कहना है कि "भारतीय मानस का सही प्रतिनिधित्व 'कपाल कुंडला' करती है 'परीक्षा गुरु' नहीं। उन्होंने लगे हाथों यह भी कहा कि 'परीक्षा गुरु' का महत्व अधिक से अधिक ऐतिहासिक है और वह भी सिर्फ हिंदी के लिए। उनके अनुसार 'बंकिमचंद्र के रोमांसधर्मी उपन्यास ने भारतीय राष्ट्र और भारतीय उपन्यास की अपनी पहचान बनाने में पहल की।"

यह सही है कि हिंदी में उपन्यासों की शुरुआत के आधार पर हिंदी उपन्यास की भारतीयता की परख नहीं की जा सकती। ठीक इसी तरह यह निर्णय भी पूरी तरह सगत नहीं है कि भारतीय उपन्यास की शुरुआत इतिहासनुमा आख्यानों के आधार पर कल्प-सृजन के रूप में ही हुई और वह भी बंगला भाषा में।

जिस समय बंगला के बंकिमचंद्र 'रोमांस' की शैली में भारतीय उपन्यास की रचना कर रहे थे, उसी के आसपास तेलुगु में दूसरे ढंग के उपन्यासों की रचना की शुरुआत हो रही थी। इन उपन्यासों में दलित-विमर्श की आरंभिक आहटें सुनायी पड़ती हैं। तेलुगु में 1872 ई. में नरहरि गोपाल कृष्णाम्मा चेट्टि ने 'श्री रंगराया चरित्र' की, और 1875 ई. में कंडुकुरी वीरसलिंगम पंतुहा ने 'श्री राजशेखर चरित्र' की रचना की। इन दोनों उपन्यासों में अहेरी राजपुत्र प्यास बुझाने के लिए दलितों का दरवाज़ा खटखटाते हैं और निराश होकर लौटते हैं। जातिगत वर्चस्व और उसके परिणामस्वरूप होने वाले संघर्ष ठेठ भारतीय जीवन और समाज की ऐसी स्थिति है जिसके चित्रण पर प्रत्यक्ष रूप से बाह्य प्रभाव पड़ने का प्रश्न नहीं उठता।

यह बात अलग है कि राजनीतिक परतंत्रता के जुए के नीचे पिसते समाज में उपनिवेशवाद का विरोध और प्रतिरोध करने के लिए जब आवाज उठी तो उसी चेतना ने लेखकों को अपने समाज की आरे देखने के लिए भी प्रेरित किया। यह केवल संयोग नहीं है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विभिन्न भारतीय भाषाओं के लेखक अपने-अपने क्षेत्रों में या तो अपनी रचनाओं में ऐतिहासिक चेतना का उपयोग कर रहे थे या अपने ढंग से इतिहास की पुनर्चना कर रहे थे। हिंदी में भारतेन्दु, गुजराती में नर्मद, मराठी में विष्णु शास्त्री चिपलुंकर ऐसे ही नाम हैं जिनकी रचनाओं में अपने-अपने क्षेत्रों और देश के इतिहास की इस रूप में रचना और पुनर्चना की गई जिससे उनके देशवासियों में विदेशी शासन का विरोध करने की राजनीतिक चेतना जाग्रत हो सके।

1.6 राष्ट्रीय रूपक के रूप में भारतीय उपन्यास

भारतीय उपन्यास के सामने भारतीय होने की पहली शर्त थी उपनिवेशवाद के मूर्त रूप अंग्रेज़ी शासन का विरोध और प्रतिरोध करना। इसी चेतना को लक्ष्य करते हुए नामवर सिंह ने निष्कर्ष निकाला कि "उपन्यास ने यदि राष्ट्र का रूप निर्मित किया तो राष्ट्रीय कल्पना ने उपन्यास के रूप-निर्माण में भी नियामक भूमिका अदा की। इस प्रकार राष्ट्र-निर्माण और उपन्यास के बीच द्वंद्वत्मक संबंध है। इस द्वंद्व के कारण ही उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश भारतीय उपन्यास 'राजनीतिक' हैं। कथानक चाहे ऐतिहासिक हो चाहे सामाजिक अथवा नितान्त निजी प्रेम की कहानी, अंततः उनसे कोई न कोई राजनीतिक अर्थ ध्वनित होता है। संभवतः इसी बात को लक्षित करते हुए अमेरिका के प्रसिद्ध मार्क्सवादी समालोचक फ्रेडरिक जेम्सन ने भारत-सहित तीसरी दुनिया के सभी देशों के उपन्यासों को 'नेशनल एलिगरी' (राष्ट्रीय रूपक) कहा है।"

डॉ. नामवर सिंह ने 'राष्ट्रीय रूपक' की इस परिकल्पना को बंकिमचंद्र के उपन्यासों पर लागू कर दिखाया है। उनके उपन्यास 'राजसिंह' (1822) का उदाहरण देकर यह सिद्ध किया कि बंकिमचंद्र ने उसमें स्वयं ही स्वीकार किया है कि "हिंदुओं का बाहुबल ही मेरा प्रतिपाद्य" है। कारण यह है कि "अंग्रेज़ी साम्राज्य में हिंदुओं का बाहुबल लुप्त हो गया है। इसी प्रकार उन्होंने बंकिमचंद्र के अन्य दो उपन्यासों - 'मृणालिनी' और 'दुर्गेशनंदिनी' में से 'मृणालिनी' में बख्तियार खिलजी का तख्ता-पलटने की घटना को जातीय कलंक के प्रतिकार के रूप में देखा क्योंकि उनकी दृष्टि में बख्तियार खिलजी की बंगाल-विजय एक ऐसा रूपक है जिसमें अनायास अंग्रेज़ों की बंगाल-विजय व्यंजित होती है। यही स्थिति 'दुर्गेशनंदिनी' की है जिसके तीसरे अध्याय को स्वयं बंकिम ने इतिहास संबंधी परिच्छेद कहा है। वैसे 'दुर्गेशनंदिनी' एक ऐसी प्रेमकहानी है, जिसमें नायिका के आदर्श-प्रेम के सामने नायक का शौर्य पराक्रम फीका पड़ जाता है। बंगाल के प्राकृतिक-परिवेश की पृष्ठभूमि में लिखी गई यह रहस्य-रोमांस रंजित प्रेमकथा दरअसल एक रूपक कथा ही है। ऐसी ही एक रूपकात्मक रोमांस-कथा नामवर सिंह ने 'कपालकुंडला' में देखी है। उस रूपक को भी समझाते हुए उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि "इसमें शक नहीं कि बंकिम के प्रेम-केंद्रित रोमांस कोरे प्रेम से कुछ अधिक अर्थ व्यंजित करते हैं। प्रेमियों का आत्म बलिदान कहीं राष्ट्रीय आदर्श के लिए आत्मबलिदान का संदेश देता है तो कहीं प्रेमियों का मिलन-प्रसंग अधिक व्यापक एकता की ओर संकेत करता है।"

इस प्रकार उनके अनुसार उन्नीसवीं शती के ये भारतीय रोमांस लोकरंजन तक सीमित न होकर राष्ट्रीय भावना को भी आत्मसात किए हुए थे। ये काल्पनिक होते हुए "यथार्थ में हस्तक्षेप करने में समर्थ थे, बहुत कुछ अनैतिहासिक होते हुए भी इतिहास के निर्माण में प्रयत्नशील थे, और विषयवस्तु में स्पष्टतः राष्ट्रीय होते हुए अंतर्वस्तु में राष्ट्रीय रूपक का आभास देते थे।"

1.6.1 भारतीय समाज का यथार्थ

इन राष्ट्रीय-रूपकों में भारतीय जीवन के यथार्थ की भी उपेक्षा नहीं की गई। बंकिमचंद्र का ही 'आनंदमठ' इसका उदाहरण है जिसमें बंगाल के गाँवों की दुर्दशा का प्रत्यक्ष चित्रण किया गया है। ऐसे उपन्यासों में यथार्थ के वर्णनों के पीछे केवल तत्कालीन समाज-व्यवस्था से परिचित कराना ही लेखक का उद्देश्य नहीं रहता था, बल्कि उसके आगे एक वृहत्तर संकल्प और व्यापक राष्ट्रीय 'विज्ञान' की व्यंजना करते हुए ऐसे वर्णन प्रासंगिक रूप में सहायक होते थे।

भारतीय उपन्यासों के इस आरंभिक दौर में भारतीय होने का अर्थ था 'राष्ट्रीय' होना। यह बात अलग है कि इसी राष्ट्रीय-चेतना ने उपन्यासकारों में वह सामाजिक-चेतना भी जगाई थी जिसके कारण वे सामाजिक विषयों की ओर उन्मुख हुए। उनके सामने यह स्पष्ट हो चला था कि विदेशी साम्राज्यवादी जुए के साथ, भीतरी सामाजिक जुए से मुक्ति, स्वराज्य हासिल करने के लिए ज़रूरी है। सामाजिक असमानताओं और अन्याय का बोझ राजनीतिक पराधीनता के बोझ और दंश से भी अधिक घातक होता है। इसीलिए यह स्वाभाविक ही था कि भारतीय उपन्यास एक ओर ऐतिहासिक कथानकों के सहारे स्वाभिमान का भाव और उपनिवेशवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय चेतना जगाने का प्रयास कर रहे थे और दूसरी ओर सामाजिक स्थितियों और अन्याय के विरुद्ध ध्यान आकर्षित कर रहे थे। ऐसे उपन्यासों में शहरों के मध्यवर्गीय जीवन में आने वाले या अपेक्षित परिवर्तनों की तरफ़ इशारा भी है और ग्रामीण जीवन पर उपनिवेशवादी व्यवस्था के प्रभावों का चित्रण भी। इनके रूपबंध के कारण 'परीक्षा गुरु' की तरह अंग्रेज़ी उपन्यासों के 'अनुकरणकर्ता' होने का आरोप प्रायः लगाया जाता है। पर इनकी अंतर्वस्तु का संबंध भारतीय समाज के यथार्थ से ही है। डॉ. नामवर सिंह ने इनमें पुरानी नीति कथाओं के समान नीरस उपदेश देकर संतुष्ट हो जाने की प्रवृत्ति देखी। और कथानकों के सीमित फलक के कारण इन भारतीय सामाजिक उपन्यासों को "बहुत कुछ घरेलू उपन्यास" कहा है। ऐसे उपन्यासों में, हिंदी में 'परीक्षा गुरु' के अलावा 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अज्ञान एक सुज्ञान' जैसी रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है।

उन यथार्थवादी उपन्यासों में जिनमें प्रेमचंद के कथा-संसार का पूर्वाभास मिलता है, फकीरमोहन सेनापति का उड़िया उपन्यास 'छ माण आठ गुंठ' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका कथा नायक उपनिवेशवादी दौर का एक ऐसा दलित किसान है जिसका खेत ज़मींदार हड़प लेता है। उसकी गाय छिन जाती है। उसके बाद मुकदमेबाजी, कोर्ट-कचहरी वकील-मजिस्ट्रेट का सिलसिला जारी होता है। अंग्रेज़ी न्याय का नाटक, जेल, क्षुब्ध किसान का हिंसात्मक प्रतिशोध और अंत में 'छ माण आठ गुंठ' का विकसित प्रलाप करते हुए मंगराज का प्राण त्याग अपनी कारुणिकता की मार्मिक छाप छोड़ जाता है। इस उपन्यास में भी बंकिमचंद्र की तरह बीच-बीच में संस्कृत के श्लोक और उनकी मनोरंजक व्याख्याएँ की गई हैं। ठेठ भारतीय व्यंग्य और आद्यंत व्याप्त करुणा से युक्त यह उन्नीसवीं शताब्दी के समूचे भारतीय उपन्यास-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस उपन्यास को नामवर सिंह ने यथार्थ और फैंटेसी के मेल से निर्मित अंततः एक 'राष्ट्रीय रूपक' किसी एक व्यक्ति की व्यथा नहीं, बल्कि पूरे समूह की — देश की आत्मा का चीत्कार कहा है। 'छ माण आठ गुंठ' उनके अनुसार पूरा भारत है।

1.6.2 भारतीय उपन्यास : अस्मिता की तलाश

ये सभी ऐतिहासिक रोमांस और यथार्थ केंद्रित सामाजिक उपन्यास इस बात का प्रमाण है कि भारतीय उपन्यास उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक एक निजी स्वरूप विकसित कर चुका था और उसकी अपनी अस्मिता कायम हो गयी थी। इस अस्मिता का निर्माण अंग्रेज़ी नॉवेल की नकल करके नहीं, अंग्रेज़ी उपनिवेशवाद के विरोध में हुआ था। इस उपन्यास का मूल किस परंपरा से जुड़ा था, इस बात का प्रमाण है कि मराठी में उपन्यास के लिए 'कादम्बरी' संज्ञा का प्रयोग किया जाता है जो इस विधा के संस्कृत मूल की ओर संकेत करता है। सभी भारतीय भाषाओं में बाणभट्ट की औपन्यासिक शैली और गद्य-विन्यास का अनुसरण भले ही

नहीं हुआ हो पर इसमें संदेह नहीं कि आरंभिक दौर के इन उपन्यासों की मूल संवेदना और सरोकार पूर्णतः जातीय है। ऐसे उपन्यासों की लम्बी सूची बनायी जा सकती है जिनमें उठाए सवाल और सरोकारों के साथ उनकी आख्यान पद्धति में भी जातीय तत्व अत्यंत प्रबल है। यह बात अलग है कि जैसा कुछ उपन्यासकारों ने स्वयं भी स्वीकार किया है, इन पर थोड़ा बहुत पश्चिमी प्रभाव भी दिखायी पड़ता है। ऐसे उपन्यासों में उल्लेखनीय हैं - गोवर्धनराम का 'सरस्वतीचंद्र', ओ. चन्दूमेनन का 'इंदुलेखा', जी. नरसिंहम्मा का 'हमेलता', मिर्जा हादी रुसवा का 'उमराव जान अदा', जी. वेंकटराव का 'इंदिराबाई', उमेशचंद्र सरकार का 'पद्मामली', रजनीकांत बादोलोई का 'मनोमती', एस. वेदनायकम पिल्लै का 'पिरातप मुदालियर चरित्रम' आदि।

1.7 भारतीय उपन्यासों में स्थानीयता

इन उपन्यासों में ध्यान देने वाली एक और विशेषता है। इनकी सामाजिक चेतना की विशिष्टता इनकी स्थानीयता में है। परंतु स्थानीयता का अतिक्रमण करके ये एक बृहत्तर समाज की कल्पना करते हैं। भारतीय उपन्यासों के इस आरंभिक दौर में स्थान-विशिष्ट सामाजिक चेतना के साथ राष्ट्र-निर्माण के बृहत्तर प्रश्नों की व्यापक चेतना का अद्भुत मेल दिखाई पड़ता है। दूसरे शब्दों में इस शुरुआती दौर में ही राष्ट्र का आख्यान कहने वाले ये उपन्यास समाज-सुधार के प्रयासों से जुड़ी वर्ग, जाति-लिंग-भेद संबंधी समस्याओं की जानकारी का पूरा एहसास जगाते हैं। आगे चलकर बीसवीं शताब्दी में मूल्यधर्मी उपन्यास रचना की जो प्रवृत्ति तमाम भारतीय भाषाओं में विकसित हुई उसके बीज इन आरंभिक प्रयासों में दिखाई पड़ते हैं। उपन्यासकारों की लगभग तीन पीढ़ियों ने स्थानीय इतिहास और राष्ट्रीय इतिहास के बीच, आंचलिक संस्कृति और अखिल भारतीय सभ्यता के बीच इस संवाद को जारी रखा और ये राष्ट्र-निर्माण के प्रश्नों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में बराबर सामने लाते रहे। बीसवीं शताब्दी में रचित ऐसे उपन्यासों में सी.वी. रामन पिल्लै के 'रामराजा बहादुर', टैगोर के 'गोरा', शिवराम कारंत के 'मराली मैरिज' तकषी शिवशंकर के 'कयर', प्रेमचंद के 'गोदान', अखिलन के 'चित्रपवड़', गोपीनाथ मोहन्ती के 'परजा', उरूब के 'सुंदरीकलुम सुंदरनमास', भालचन्द्र निमाडे के 'कोसल', ललिताम्बिका अंतरजनम के 'अग्निसाक्षी', ताराशंकर बैनर्जी के 'ओराग्यनिकेतन', विभूतिभूषण के 'अरण्यक', महाश्वेता देवी के 'अरण्येर दिन रात्रि', फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल' और कृष्णा सोबती के 'ज़िंदगीनामा' की गणना की जा सकती है। हिंदी में आंचलिक उपन्यासों की एक लम्बी सूची है जिसमें स्थानीयता का अतिक्रमण करके राष्ट्रीय चेतना से रिश्ता जोड़ा गया है। और तो और आर.के. नारायण के 'मालगुडी डेज़', विक्रम सेठ के 'सूटेबल बॉय' और अरुंधती राय के 'गॉड ऑफ़ स्माल थिंग्स' में भी स्थानीय जीवन की भंगिमाओं और परिदृश्य को अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास किया गया है।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में रचित अंग्रेज़ी भाषा के भारतीय उपन्यास इस प्रवृत्ति के दिलचस्प उदाहरण हैं कि कैसे जातीय चेतना देश की राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप स्वाधीनता आंदोलन के साथ सम्पन्न होकर राष्ट्रीय और सामाजिक प्रश्नों और स्थितियों को प्रमुखता देने लगी थी। इन उपन्यासकारों पर स्वाधीनता आंदोलन और गांधी जी के व्यक्तित्व और विचारों का व्यापक प्रभाव दिखाई पड़ता है। इन लेखकों में आर.के. नारायण, राजाराव और मुल्कराज़ आनंद का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। विदेशी भाषा में रचना करने के बावजूद इन्हें 'भारतीय' उपन्यासकार इसलिए नहीं कहा जाता क्योंकि ये भारतीय नागरिक थे बल्कि इसलिए कि ये भारतीय जीवन के यथार्थ की वास्तविक कथा कह रहे थे। अंग्रेज़ी माध्यम से ये भारतीय जीवन की सच्चाई को अंग्रेज़ी के पाठकों तक पहुँचाना चाहते थे। अंग्रेज़ी को माध्यम बनाने के पीछे इनका एक लक्ष्य अंतर्राष्ट्रीय पाठक और बाज़ार के बीच अपनी जगह बनाना हो सकता है, पर ऐसा करने में सफलता तभी मिल सकती है जब इनकी मूल चेतना भारतीय हो। जातीय संदर्भ के अभाव में कोई साहित्य अंतर्राष्ट्रीय नहीं हो सकता। साहित्य के

इतिहास में ऐसे दौर आते हैं जब जातीय चेतना रचनाओं में केंद्रीय होती है। ऐसे समय वह साहित्य विशेष रूप से फलता-फूलता है। भारत का भक्ति साहित्य, अंग्रेज़ी का एलिज़ाबेथ युग का साहित्य और विश्व की तमाम भाषाओं के रोमांटिक दौर के साहित्य ऐसी ही जातीय चेतना के प्रतिफलन के साहित्य हैं। जातीय स्वर ही किसी साहित्य की औरों से अलग, विशिष्ट पहचान बनाता है। जातीय चेतना के आधार पर ही तय होता है कि 'महाभारत' प्राचीन भारत की और 'इलियड' प्राचीन ग्रीस की रचनाएँ हैं।

1.8 भारतीय उपन्यास में जातीय चेतना

भारतीय साहित्य में लम्बी औपनिवेशक गुलामी के बाद राजनीतिक रूप में स्वाधीन होने के बावजूद भारतीय मानस में विदेशी संस्कृति के प्रति एक पूजा भाव बना रहा। जिस उच्च शिक्षा प्राप्त तथाकथित उच्चवर्ग ने सत्ता की बागडोर सम्हाली, उनमें बड़ी संख्या जड़ों से उच्छिन्न लोगों की थीं। नए स्थापित प्रजातंत्र में अल्पसंख्यक समुदायों को आरंभ में अपेक्षित महत्व नहीं मिला। इसके अलावा हमारे सामने आदर्श के रूप में एक ऐसा बनावटी अंतर्राष्ट्रवाद परोस दिया गया जिसकी चकाचौंध में जातीय तत्वों को भी अपेक्षित महत्व नहीं दिया गया। ध्यान से देखा जाए तो भारतीय उपन्यास में जातीय चेतना स्वाधीनता आंदोलन के दौरान जितनी मुखर है, उतनी स्वाधीनता के तत्काल बाद कुछ वर्षों तक नहीं दिखायी पड़ती। नृतत्व-शास्त्रियों के अनुसार जातीय चेतना का स्वर सबसे प्रखर तब होता है, जब किसी कमज़ोर संस्कृति को किसी बरज़ोर संस्कृति से खतरा पैदा होता है। यह वर्चस्व राजनीतिक, आर्थिक जैसे किसी भी कारण से हो सकता है। टकराहट की ऐसी स्थिति में राजनीतिक स्तर पर तरह-तरह के आंदोलनों में जनता की भागीदारी और सक्रियता बढ़ जाती है, और साहित्य की विषयवस्तु में कभी इन कारगुज़ारियों की आहटें और कभी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति दिखायी पड़ती है। भारत का 1857 का सैनिक विद्रोह, किसान आंदोलन, बाद में गांधी जी का स्वाधीनता संघर्ष और प्रादेशिक और जातीय स्तर पर घटित होने वाले तमाम आंदोलन इसके प्रमाण हैं।

साहित्य में राष्ट्रीय आंदोलन पर लिखनेवाले बंगला उपन्यासकारों में रवीन्द्रनाथ, शरतचंद्र, ताराशंकर बंद्योपध्याय और कुछ बाद के सतीनाथ भादुड़ी के उपन्यासों की चर्चा की जाती है। सतीनाथ भादुड़ी ने 1930-40 के राष्ट्रीय आंदोलन पर बेतरह निर्ममता और ईमानदारी से लिखा। उन्होंने स्थानीय नेताओं की बहादुरी और आत्मबलिदान की गाथा भी गायी, और उनके अवसरवाद और छोटे-मोटे व्यसनों को भी आँख से ओझल नहीं होने दिया। राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के प्रति गहरी निष्ठा के साथ उनकी रचनाओं में सामाजिक सरोकारों और परिदृश्य के स्पष्ट संकेत दिखायी पड़ते हैं। बंगला भाषा के इस आँचलिक उपन्यासकार की रचनाओं में उत्तर पूर्वी बिहार का जीवन साकार हुआ है। वे एक अत्यंत संवेदनशील राजनीतिक लेखक होने के साथ ही राजनीतिक टिप्पणीकार की भूमिका भी निभाते हैं। वे भारत के ग्रामीण जीवन पर राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव का सजग चित्रण करते हैं। उनका 'धोनाई-चरित-मानस' गरीब मज़दूर वर्ग के जीवन के तीन दशक का मार्मिक आख्यान है जिसकी काल-व्याप्ति 1942 ई. के बाद तक दिखाई पड़ती है। इसमें सुदूर उत्तर-पूर्वी बिहार के एक गाँव पर राष्ट्रीय-आंदोलन जैसी घटना के प्रभाव की गहरी समझ के साथ ही परंपरा और आधुनिकता के बीच टकराहट को भी लक्ष्य किया गया है।

भारतीयता की महत्वपूर्ण पहचान है उसका बहुलतावाद। यह ऐसा बहु-भाषी, बहु-जातीय और बहु-धार्मिक देश है, जिसके कारण भारतीयता का एकघन विस्तार भी कभी-कभी इस बहुलता को अनदेखा कर जाता है। हम भारतीयता की खोज कुछ ऐसी सामान्य, देशव्यापी, अस्पष्ट सी विशेषताओं में करने लगते हैं जिनमें छोटे, हाशियाई वर्गों और समुदायों के वैशिष्ट्य की पहचान या तो धुंधला जाती है या अपेक्षित और अलक्षित रह जाती है।

बीसवीं शती के उत्तरार्ध में, भारतीय उपन्यासों की अनेक भाषायी रचनाओं में चरित्रों और समस्याओं के रूप में ऐसे वर्गों ने अपनी जगह बनाई है जो सदियों से उपेक्षित, अपमानित तबके की शकल में समाज के हाशिये पर जी रहे थे। इन अल्पसंख्यक समुदायों और अपेक्षाकृत विपन्न क्षेत्रों की जातीय संवेदना की तरफ ध्यान देने की जरूरत पहले शायद इसलिए नहीं समझी गई क्योंकि यह मान लिया गया कि इनका अनुभव-जगत सीमित और संकीर्ण होने के कारण साहित्य के लिए विशेष उपयोगी नहीं है।

परंतु बाद के, भारतीय भाषाओं के रचनाकारों ने, साथ ही अंग्रेजी में लिखने वाले भारतीय उपन्यासकारों ने भी साग्रह इस उपेक्षित वर्ग की समस्याओं को विषय बनाया। प्रेमचंद यह काम कुछ दूर तक पहले ही कर चुके थे। निराला के 'कुल्ली भाट', 'चतुरी चमार', 'बिल्लेसुर बकरिहा' जैसे उपन्यासों के केंद्र में इसी वर्ग के पात्र थे। यही स्थिति राजा राव के 'कंथापुरा' की है। उसकी कथावस्तु भी 'अछूत' और 'नीची' कही जाने वाली जाति के लोगों पर केंद्रित है। हिंदी में यह परंपरा बाद में नागार्जुन और उनके समानधर्मी उपन्यासकारों में विकसित हुई। ऐसे विषयों को लोक-प्रसिद्धि अंग्रेजीदां समाज के प्रिय लेखक मुल्कराज आनंद के 'कुली' जैसे उपन्यासों से मिली। वह उपन्यास अपने लेखक को भी सबसे अधिक प्रसिद्धि दिलाने में कारगर सिद्ध हुआ। मुल्कराज आनंद ने उपन्यास में कुली, चमार, और अछूतों का प्रवेश कराया, जो भारतीय समाज का उपेक्षित, प्रताड़ित, किंतु संख्या की दृष्टि से बहुत बड़ा हिस्सा है।

अंग्रेजी उपन्यासों में एक वर्ग उन महिला रचनाकारों का है जिन्होंने नारी जीवन की दुर्दशा को अपने कथानकों का केंद्र बनाया है। इनमें कमला मार्कण्डेय, नयनतारा सहगल, अनीता देसाई और शाशि पाण्डेय जैसी लेखिकाएँ उल्लेखनीय हैं। इन्होंने बड़ी संवेदनशीलता से भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति और उसके जीवन की विडम्बनाओं पर नज़र डाली है। इनके उपन्यासों के माध्यम से जो भारतीय नारी उभर कर आती है वह ठेठ भारतीय समाज की नारी है। कहा जा सकता है कि भारतीय उपन्यास की एक महत्वपूर्ण विशेषता दलित-विमर्श और स्त्री-विमर्श हैं जिसपर सैद्धांतिक विचार तो उत्तर आधुनिक मुहावरे में बहुत बाद में, बीसवीं शती के अंतिम दशकों में किया गया पर रचनात्मक साहित्य में उसने अपनी पहचान बहुत पहले कायम कर ली थी।

अंग्रेजी में लिखे गए पहले दौर के उपन्यासों की सांस्कृतिक दृष्टि को व्यापक रूप से ब्राह्मणधर्मी हिंदू विश्व-दृष्टि, बल्कि शायद वेदांती दृष्टि कहना ज्यादा सही होगा। अपनी अंतर्वस्तु के बारे में यह 'विज्ञान' उनकी ठेठ भारतीय पहचान का द्योतक है। यद्यपि यह खंडित पहचान ही है।

इस परंपरा में आगे चलकर अधिक यथार्थवादी उपन्यासों की रचना हुई। उदाहरण के लिए किरन नागरकर के उपन्यास 'रावण और एडी' में एक चाल में रहने वाले हिंदू मराठी युवक 'रावण' और रोमन कैथलिक लड़की 'एडी' के बीच संबंधों को विषय बनाया गया है। यह मात्र प्रेम कथा नहीं है। यह उपन्यास भारतीय जीवन की विविधता की पहचान कराता है। समाज के दूसरे तबकों से चालों में रहने वाली भारतीय जनता के जीवन के अंतर और उनके अंतरंग संबंधों को यह रचना उजागर करती है। इसके साथ ही चालों के स्थानीय माहौल से भी परिचित कराती है।

अंग्रेजी उपन्यास भारत की सांस्कृतिक बहुलता को उसकी विविधता में प्रतिबिंबित करने की दृष्टि से बहुत समृद्ध है। इन्हें इस दृष्टि से सही अर्थ में भारतीय कहा जा सकता है क्योंकि मात्रा-भेद से इनमें से अधिकांश को भारतीय समाज के हाशिए पर स्थित समुदायों को अपनी रचनाओं में जगह देने में पर्याप्त सफलता मिली है। इन उपन्यासकारों में अमिताव घोष, रोहन मिश्री, किरन नागरकर, एलेन सैली, कावेरी नम्बिसन जैसे अनेक नाम लिए जा सकते हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है भारतीय उपन्यास ने अपनी आरंभिक पहचान इतिहास की पुनर्रचना के रूप में बनानी शुरू की। यह मानो औपनिवेशिक राजसत्ता के विरोध की मानसिकता की पृष्ठभूमि या तैयारी का पहला चरण था। दूसरा चरण साक्षात् औपनिवेशिक शासन के विरोध में लिखे जाने वाले उपन्यासों का था। इन्हीं के समानांतर अपने समाज के पीड़ित और उपेक्षित समुदायों को उपन्यासों में जगह देकर, सामाजिक अन्याय के प्रतिरोध में आवाज़ उठाई गई। राजसत्ता और समाज सत्ता दोनों से मुक्ति का अभियान इनका लक्ष्य था। इनमें स्वाधीनता आंदोलन और समाज के सुधारवादी आंदोलनों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इन्हीं उपन्यासों के बीच एक धारा उन उपन्यासों की दिखाई पड़ती है जिनका स्वर आंदोलनात्मक तो नहीं था पर जिन्होंने भारतीय समाज की संरचना की महत्वपूर्ण इकाई परिवार पर ध्यान केंद्रित किया। इन उपन्यासों में ठेठ भारतीय संयुक्त-परिवारों में आने वाले परिवर्तनों, पारिवारिक सदस्यों के आपसी संबंधों, विशेषकर मध्यवर्गीय परिवारों में स्त्री की हैसियत के बड़े प्रभावी चित्रण किए गए हैं। यही इन उपन्यासों की लोकप्रियता का कारण भी था। हिंदी में प्रेमचंद और बंगला में शरतचंद्र के उपन्यास इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं।

1.9 भारतीय उपन्यास में राजनीतिक संदर्भ

भारतीय उपन्यास की सबसे बड़ी पहचान यह है कि उसमें समाज में होने वाली किसी महत्वपूर्ण राजनीतिक और सामाजिक घटना को कभी अनदेखा नहीं किया गया। भारतीय इतिहास में बीसवीं शताब्दी की सबसे बड़ी घटना देश के विभाजन की त्रासदी थी। इस घटना के दंश को विषय बनाकर लिखे गए भारतीय उपन्यासों और कहानियों की सूची खासी लम्बी है। कुछ महत्वपूर्ण नाम हैं यशपाल का 'झूठा सच', भीष्म साहनी का 'तमस', राही मासूम रज़ा का 'आधा गाँव', कृष्णा सोबती का 'ज़िंदगीनामा', ज्योतिर्मयी देवी का 'एपार गंगा ओपार गंगा', इतिज़ार हुसैन का 'बस्ती', अब्दुल्ला हुसैन का 'उदास नस्लें', मुकुल केशवन का 'लुकिंग थ्रू ग्लास', बाप्सी सिदवा का 'द आइस कैंडी मैन'। इन उपन्यासों में विभाजन से पहले की साझी संस्कृति में हिस्सेदारी की स्मृति और बाद में उसके बीचोंबीच से चाक कर दिए जाने का दंश तो अपनी जगह है ही, इसके अलावा हिंदू, मुस्लिम, सिखों के बीच अलग-अलग रीति-रिवाज़ों और जीवन-शैली की निष्क्रिय स्वीकृति ही नहीं बल्कि सामाजिक संबंधों के बीच दैनंदिन आपसी व्यवहार में इस साझी संस्कृति का प्रतिफलन इनमें महसूस किया जा सकता है। जन-समुदाय के बीच दैनंदिन-जीवन की यह पारस्परिकता सैद्धांतिक विश्वासों को महत्व और मूल्य प्रदान करती है। भारत में विभाजन पूर्व की इस सांझी-संस्कृति की रिवायतों, विभिन्न समुदायों के बीच आपसदारी, मेल-मिलाप, सौहार्द की स्मृति को बनाए रखना भारतीय समाज में इसलिए और ज़रूरी था क्योंकि विभाजन के बाद के भारत में भी इन समुदायों के बीच गैर-साम्प्रदायिक सहिष्णुता, और आपसदारी को बनाए रखना सभी समुदायों के लिए अपेक्षित था। बहुसंख्यक हिंदू जनता के लिए इस भाव को बनाए रखना उसका फर्ज़ था और अल्पसंख्यकों के अस्तित्व के लिए उनकी ज़रूरत। विभाजन की त्रासदी पर लिखे गए अधिकांश उपन्यासों ने इस एहसास को बनाने में बड़ी कारगर भूमिका निभायी।

बीसवीं शताब्दी के पिछले दशकों में ऐसे उपन्यासों का सैलाब दिखायी पड़ता है जिनमें राजनीतिक दृष्टि से मोहभंग, सामाजिक विघटन, समाज के विभिन्न समुदायों की स्थिति, जिनमें बड़ी संख्या नारी-विमर्श और दलित-विमर्श से संबंधित रचनाओं की हैं। ये उपन्यास अपनी जातीय पहचान में उन रचनाओं से अलग हैं जिन्होंने दूसरे विश्व-युद्ध के बाद अस्तित्ववादी मुहावरों के सहारे अपनी पहचान बनायी थी। फ़ैशन के बतौर कुछ दिन तक वाहवाही लूटने के अतिरिक्त इन रचनाओं की कोई परंपरा आगे नहीं बढ़ सकी। इनके समीक्षकों का ध्यान भी उपन्यास-समीक्षा से अधिक प्रभाव-समीक्षा पर केंद्रित रहा। अज्ञेय की 'अपने-अपने अजनबी' इस प्रवृत्ति का सबसे सटीक उदाहरण है।

जातीय चेतना अपने आपको ठेठ भारतीय जीवन और जमीन से जुड़े उपन्यासों में ही व्यक्त करती रही है। ज़रूरी नहीं कि ऐसे उपन्यासों का संबंध वर्तमान से यानी प्रकट यथार्थ से दिखाई पड़े। संस्कृति-बोध और जातीय चेतना अतीत और वर्तमान के संवाद या द्वंद में भी अभिव्यक्ति पा सकती है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में यही हुआ है। वे अपने विन्यास में रूपकात्मक और कथानकों में अतीतजीवी होकर भी परंपरा और आधुनिकता के बीच संवाद की ठेठ भारतीय शैली का प्रतिनिधित्व करते हैं। ज़रूरी है वह निजता, जो परायों से अलग अपनी पहचान कायम करे।

हर बड़ा लेखक मूलतः अपने समय और अपने समाज के लिए लिखता है। अगर वह अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रशंसा और प्रतिष्ठा पाता है तो वह उसके लिए महज़ संयोग और गौण उपलब्धि होती है। ऐसे संयोग-तरह-तरह के कारणों से घटित हो सकते हैं। दांते और शेक्सपियर जिन्हें विश्व लेखकों का दर्ज़ा दिया गया मूलतः अपने देशों के लिए, अपनी जातीय परंपरा में लिख रहे थे। उनके देशों की साम्राज्यवादी ताकत ने उन्हें बहुत बाद में विश्व-रचनाकारों के रूप में प्रतिष्ठित किया।

भारत के कालिदास, कबीर, तुलसीदास, कम्बन, या गालिब अपनी देशीय चेतना से प्रेरित होकर अपने समय और अपने समाज के लिए ही रचना कर रहे थे। यही बात पुश्किन, गोर्की और ताल्स्ताय के बारे में भी कही जा सकती है। हर बड़ा लेखक अनायास ही अपनी स्थानीय परंपराओं से मूलतः जुड़ा होता है जिनका आदान-प्रदान दूसरी सभ्यताओं और संस्कृतियों से होता है। वे इस प्रक्रिया में जाने-अनजाने औरों के मूल्यों, आस्थाओं और जीवन-पद्धतियों से वही अंश ग्रहण और आत्मसात करते हैं जो उनकी अपनी चेतना में जज़ब हो सके। विदेशी मूल्यों, विश्वासों और व्यवहार-पद्धतियों से विभिन्न सामाजिक समुदाय बड़ी सावधानी से सही तत्व ग्रहण करते हैं जो उनकी अपनी मूल संरचना को पोषित करने में सक्षम हो। ऐसे ही प्रभाव किसी जातीय संरचना में अंततः घुल-मिलकर अपनी पहचान खोकर उसका अभिन्न अंग हो जाते हैं। यही स्थिति भारतीय उपन्यास की है जिसमें जातीय-बोध, परंपरा और रचना-शैली से जुड़ी एक निजी परंपरा है, जिसने बाह्य प्रभावों को आत्मसात कर लिया है। उसके बीच 'अंग्रेज़ी नॉवल' के अनुकरण पर रचित कृतियों की स्थिति हाशिए की है, मूल धारा की नहीं।

1.10 सारांश

एम.एच.डी.-13 के चौथे खंड की इस पहली इकाई में आपने 'भारतीय उपन्यास की अवधारणा' के बारे में अध्ययन किया है। इस इकाई में भारतीय उपन्यास की अवधारणा को समझने के क्रम में इस बात पर विचार किया गया है कि उपन्यास नाम की विधा जो अंग्रेज़ों के संपर्क में आने के कारण हमारे लिए एक परिचित विधा बनी, उसे हमने अपनी विधा के रूप में किस तरह विकसित किया।

इसी संदर्भ में आधुनिकता और जातीयता के द्वंद पर इकाई में विचार किया गया है। क्या आधुनिकता और जातीयता दो विरोधी धारणाएँ हैं या उपन्यास में जातीय पहचान की अभिव्यक्ति करते हुए भी आधुनिक हुआ जा सकता है। इसी संदर्भ में भारतीयता के अर्थ का सवाल भी उठता है। भारतीयता का कोई एक रूप उपन्यासों में व्यक्त नहीं हुआ है। इसके किसी एक पक्ष पर अधिक बल देना भारतीयता की ऐसी परिभाषा से इंकार करना है।

भारतीय उपन्यास को समझते हुए यह भी जानना है कि भारतीय भाषाओं में लिखे जाने वाले क्षेत्रीय उपन्यास भिन्न-भिन्न जातीयताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं इसके बावजूद उसमें कुछ ऐसे सामान्य तत्व हैं जो उन्हें एक दूसरे से जोड़ते हैं।

इकाई में हिंदी के प्रख्यात मार्क्सवादी आलोचक नामवर सिंह की इस धारणा पर भी विचार किया गया है कि भारतीय भाषाओं में लिखे गए उपन्यास एक अर्थ में 'राष्ट्रीय रूपक' हैं। नामवर सिंह की इस धारणा का मूल उत्स फ्रेडरिक जेम्सन की अवधारणा में है, जिसका उल्लेख भी इकाई में किया गया है। राष्ट्रीय रूपक को परिभाषित करते हुए ही भारतीय उपन्यासों में व्यक्त भारतीय समाज के यथार्थ की विभिन्न छवियों की समीक्षा की गई है और इस रूप में भारतीय उपन्यास में अस्मिता की तलाश के चिह्न भी खोजे गए हैं।

इकाई में भारतीय उपन्यासों, जिनमें भारतीय लेखकों द्वारा लिखे गए अंग्रेजी उपन्यासों को भी शामिल किया गया है, स्थानीयता या आंचलिकता के मसले पर भी प्रकाश डाला गया है। उस जातीय चेतना को भी व्याख्यायित किया गया है जो भारतीय उपन्यास की खास पहचान है। इकाई के अंत में दलित, सांप्रदायिकता और स्त्री-विमर्श के संदर्भ में भी भारतीय उपन्यास की विशिष्टता को पहचाना गया है जो उसे राजनीतिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है। इन पहलुओं पर विचार करते हुए भारतीय उपन्यास की अवधारणा को समझा जा सकता है।

अभ्यास

1. भारतीय उपन्यास में जातीय चेतना की अभिव्यक्ति की विवेचना कीजिए।
2. भारतीय उपन्यास को राष्ट्रीय रूपक कहना कहाँ तक उपयुक्त है, अपना मत प्रस्तुत कीजिए।
3. भारतीय समाज के यथार्थ के ऐसे पक्षों का उल्लेख कीजिए जिनकी अभिव्यक्ति भारतीय उपन्यास को दूसरों से अलग करती हैं।